ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
ISSN No.: 2347-2944, RNI:UPBIL04292, REG. No.: 561/2013-2014 Vol.-2, No.-2, **PP-340-343,** YEAR-2015

ग्रामीण जीवन की अर्थ व्यवस्था – कृषि व्यवसाय

❑ **डॉ0 अखिलेश कुमार**

सार *– भारत एक कृषि प्रधान देश है। इसमें सम्पूर्ण जनसंख्या का लगभग तीन चौथाई भाग अपनी आजीविका के लिए कृषि तथा इससे सम्बन्धित क्रिया–कलापों पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में यदि यह कहा जाय कि भारत गाँवों में निवास करता है तो शायद अतिशयोक्ति न होगी। इसलिए भारतीय गाँव के सन्दर्भ में कृषि एवं भूमि का विशेष महत्त्व है। ग्रामीण सामाजिक स्तरीकरण में भूमि और जाति ही वर्ग विशेष के पद, आर्थिक स्थिति, राजनीतिक प्रभाव और रहन–सजन के स्तर को निर्वाहित करती है। इस स्तरीकरण में सर्वोच्च स्तर पर बड़ी जोतो वाले भू–स्वामी कृषक तथा सबसे नीचे स्तर पर खेतिहर श्रमिक तथा बन्धआें मजदूर आते हैं, जो अधिकांशतः आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से पिछड़े व निम्न जातियों के होते हैं।*

प्रारम्भ में कृषि एवं भूमि का स्वरूप वर्तमान ढाँचें से बिल्कुल भिन्न था। गाँवों के करोड़ों लोग उस समय जीवन के अधिकार के अधिकार से ही लगभग वंचित थे। उनपर जमींदार मालगुजारी वसूल करने वाले अधिकारी, पुलिस, जाति के मुखिया और वास्तव में जरा ला अधिकार रखने वाले हर व्यक्ति का निरन्तर आतंक छाया रहता था। खेती करने वाला भी सदा अपनी ही फसल की चोरी करके पेट पाल्ता थाः क्योंकि वह जानता था कि फसल कटने पर जमींदार साहूकार और तहसीलदार उसके परिवार के लिए कुछ भी नहीं छोड़ेंगे। स्वतन्त्रता पश्चात् जमींदारी व्यवस्था के अन्त से बिचौलिए समाप्त हो गये और गाँव के लोगों को राजनीतिक अधिकार की प्राप्ति हो गई जिससे भूमि एवं कृषि के महत्त्व में पर्याप्त वृद्धि हुई। अनेक भारतीय व विदेशी समाजशास्त्रियों ने ग्रामीण समाज में व्यक्ति के लिए भूमि के महत्व को भली प्रकार दशनि की चेष्टा की है। कोल्व तथा बूनर (1952), नेल्सन (1955), बरटेन्ड (1958), दूबे (1960), बेली (1958), बिते (1969), सिंह (1980) तथा श्रीनिवास (1980) कि नाम इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। देसाई ने कृषि को भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था की धूरी तथा भूमि को कृषि उत्पादन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में स्वीकार करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि भारतीय ग्रामीण समाज के विभिन्न समूहों के मध्य जो संघर्ष हुए है वे मुख्य रूप से भूमि स्वामित्व के चारों ओर घूमते रहे है (देसाई, ए०आर० : 1978)। लेविस ड्यूमा के अनुसार राज्य, क्षेत्र, शक्ति एवं सत्ता तथा ग्रामीण प्रभुत्व इत्यादि सभी भूमि स्वमित्व से उत्पन्न होते है (ड्यूमा 1966 : 153)। भूमि स्वामित्व व्यक्ति को अनेक प्रकार के अधिकार तथा सुविधाएँ प्राप्त करने में योगदान देता है। देसाई के अनुसार, "सभी प्रकार के आर्थिक स्रोतों में ग्रामीण समाज में भूमि सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण पूँजी होती है और कृषक के पास जितनी कम भूमि होती है वे उतना ही निर्बल होते हैं। इसलिए स्वामित्व कृषि व्यवसाय से सम्बन्धित व्यक्तियों के आर्थिक पद और स्थिति का महत्त्वपूर्ण मापदण्ड होते हैं अपितु भूमि स्वामित्व कृषक समाज में सामाजिक–आर्थिक स्थिति का महत्त्वपूर्ण निर्णायक कारक होता है (देसाई : 1978 : 287)।" श्रीनिवास के विचार से ग्रामीण जीवन प्रतिमान प्रायः भूमि, जो कि धन तथा सम्पदा का महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं, पर आधारित है। उन गाँवों में भी जिनमें व्यापारिक तथा शिल्पकारी जातियों का प्रभुत्व होता है, भूमि ही ग्रामीण सम्पन्नता

एसो0 प्रोफेसर व विभागाध्यक्ष एवं अर्थशास्त्र विभाग, के0 जी0 के0 कालेज, मुरादाबाद (उ0प्र0) भारत

का प्रमुख आधार है और सिंचित भूमि अमूल्य वस्तु समझी जाती है (श्रीनिवास : 1980 : 38)। यही नहीं, भूमि वैवाहिक स्तर, शिक्षा एवं राजनैतिक सहभागिता के स्तर का भी निर्धारण करता है। ड्यूमा के शब्दों में भूमि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा मान्यताप्राप्त सम्पत्ति है जो दूसरे व्यक्तियों पर सत्ता एवं शक्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है एवं सामाजिक स्थिति को प्रभावित करती है (ड्यूमा : 1966 : 156)।

परम्परात्मक जातीय श्रृंखलात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत अस्पृश्य अथवा अनुसूचित जाति के लोगों को सामान्यतः भूमि स्वामित्व के रूप में सम्पत्ति बनाने का अधिकार नहीं था। मनु द्वारा बनायी गयी रूढ़ियों तथा पूर्वाग्रहों पर आधारित नियमों के अन्तर्गत उन्हें धनहीन अथवा सम्पत्ति के बगैर रहने के लिए बाध्य किया जाता था। वे न तो भूमि खरीद सकते थे और न ही इसके स्वामी हो सकते थे (बोरेल : 1968 : 99)। पी०वी० काणे के अनुसार शूद्र केवल हल चालने तथा निम्न सेवाएं करने के लिए ही थे। (काणे, पी०वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग–2 : पेपर–1, 39)। हट्टन, श्रीनिवास, बेली तथा योगेन्द्र सिंह के अनुसार परम्परागत भारतीय समाज में अधिकांश कृषि मजदूरी करने वाले लोग अनुसूचित जाति के होते थे और वे प्रायः बन्धक के रूप में कार्य करते थे (हट्टन, जे०एच० : 1963 : 207 : श्रीनिवास : 1980 : 15 : बेली : 1958 : 201–220 : सिंह : 1980 : 30–32)। अनुसूचित जाति एवं पिछड़ी जातियों के अधिकांशतः व्यक्ति ग्रामीण समाज में प्रायः किरायेदार अथवा कृषक मजदूर के रूप में कार्य करते रहे हैं और आर्थिक दृष्टि से वे हमेशा असुरक्षित रहे हैं। इनकी असुरक्षा का कारण भूमि के निजी स्वामित्व का न होना तथा प्रभु जातियों का वर्चस्व रहा है। ल्युविन का विचार है कि किरायेदारों तथा कृषिक मजदूरों की असुरक्षा का भूमि तथा कृषिक सम्बन्धों पर अत्यधिक अवांछनीय प्रभाव पड़ता है (ल्युविन : 1951 : 467–475)। जिसके फलस्वरूप उत्पादक्ता में कमी भूमि की उर्वरा शक्ति में ह्रास और अनेक सामाजिक–आर्थिक दुष्परिणाम सामने आते हैं। सामाजिक स्तरीकरण के सन्दर्भ में ड्यूमा ने जाति एवं भूमि स्वामित्व के सहसम्बन्ध को स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त किया है। इनके अनुसार ग्रामीण समाज संरचना में दो प्रकार की जातियां पाई जाती हैं, प्रथम तो वे जिनके पास भूमि होती है और दूसरे वे जिनके प्रायः प्रत्येक गाँव में अधिकांश भूमि किसी एक ही जाति के सदस्यों के पास होती है इसलिए यह जाति प्रभु जाति के रूप में जानी जाती है। प्रायः इस जाति के लोगों का आर्थिक शक्ति पर आधिपत्य होता है और यह प्रभु जाति के रूप में उपजीविका साधनों और राजनैतिक सत्ता को नियन्त्रित करती है (ड्यूमा : 1966 : 106)। यदि अनुसूचित जातियों के पास कुछ भी भूमि होती थी तो उसका आकार बहुत ही छोटा होता था। इस तथ्य की पुष्टि फुच्र (1950), अग्रवाल (1972), मुन्द्रा तथा बाथम (1961) के अध्ययनों से होती है।

ग्रामीण समाज में धन का परिमाण मुख्य रूप से कृषि पर और अन्तिम विश्लेषण में उस कृषि तकनीक पर निर्भर है जो उसमें प्रयुक्त होती है क्योंकि जितनी ऊँची तकनीक होगी उतना ही अधिक कृषि का उत्पादन होगा (देसाई, ए०आर० : 1978)। परम्परात्मक ग्रामीण समाज में देशी हल, कुदाल, फावड़ा तथा बैल कृषि साधन के रूप में प्रयुक्त होते थे। सिंचाई के लिए कुँओं, तालाबों अथवा पोखरे का पानी शारीरिक श्रम या पशुओं को प्रयुक्त करके कच्ची नालियों द्वारा खेतों में पहुँचाया जाता था। आधुनिक रासायनियक उर्वरक तथा उन्नतशील बीजों का अभाव और कीटनाशक दवाएं भी उपलब्ध नहीं थी। अनुसूचित जातियों के लोगों के पास कृषि भूमि ही नहीं थी, इसलिए कृषि सम्बन्धी सुविधाओं का उनके पास होने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भूमि स्वामित्व के महत्व को दृष्टिगत रखते हुए सरकार ने अनुसूचित जातियों एवं भूमिहीनों की सामाजिक–आर्थिक दशा सुधारने के लिए उन्हें भूमि उपलब्ध कराने सम्बन्धी कई योजनाएं बनाई हैं। फलस्वरूप ये लोगों कृषि के निमित्त व्यक्तिगत भू–सम्पत्ति बढ़ाने के लिए अग्रसर हो रहे हैं। परन्तु

इस तरफ कोई विशेष उन्मुखता या प्रबल चेतना विकसित नहीं हो रही है। यद्यपि थोड़ी ही सही किन्तु भूमि स्वामित्व एक ऐसा साधन है जो अनुसूचित जातियों के लोगों और भूमिहीनों में नयी आशाएं एवं महत्त्वकांक्षाएं उत्पन्न करके सामाजिक असमानताओं तथा अन्याय से उन्हें मुक्ति दिलाने में सहायक सिद्ध हो सकता है। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के कमिश्नर की रिपोर्ट के अनुसार भारतवर्ष में सबसे अधिक भूमिहीनता अनुसूचित जातियों में प्रतिबिम्बित होती है। सरकार द्वारा बनाई गई योजनाओं के फलस्वरूप कुछ लोगों को सरकारी अनुदान के रूप में भूमि प्राप्त हुई है, कुछ जो किराए की खेती करते थे अपनी भूमि भी खरीदे हैं। कुछ लोगों को भूमि सीमा निर्धारण तथा किरायेदारी समापन अवरोधक नियमों से लाभ पहुँचा है और कुछ लोगों के पास अपनी भूमि जो बहुत पहले से गिरवी अथवा दूसरों के कब्जे में थी, अब प्राप्त हो गई है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार विभिन्न सरकारी सुविधाओं के परिणामस्वरूप भूमि एवं कृषि के सम्बन्ध में पिछड़ी जातियों एवं अनुसूचित जातियों के व्यक्तियों को पर्याप्त लाभ पहुँचा है मगर व्यावहारिक स्तर पर भूमि सम्बन्धी सरकारी नीति से विभिन्न सामाजिक वर्गो एवं जातियों में परस्पर द्वेष, कलह, संघर्ष तथा अपराधी भावनाओं की सृष्टि हुई है। इसके साथ ही साथ भूमि आवण्टन के अन्तर्गत जन जातियों को जिस भूमि का आवण्टन किया गया है वह या तो कृषि योग्य नहीं है अथवा इतनी कम भूमि हैं जिससे एक परिवार का भी पालन पोषण सम्भव नहीं है। यद्यपि सरकार द्वारा यह प्रयास तीन दशकों से भी अधिक समय से किए जा रह हैं, परन्तु मुमताज अली खाँ (1960) और ए०वी० हीरामनी (1977) मिश्रा एस०एन० तथा एल०पी० विद्यार्थी (1977) के अध्ययनों से परिलक्षित होता है कि भूमिहीनों, पिछड़ी जातियों एवं अनुसूचित जातियों के लोगों के पास अभी भी भूमि बहुत कम है।

वर्तमान औद्योगिक एव तकनीकी युग में जबकि सम्पूर्ण भारत औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुजर रहा है, कृषि व्यवस्था भी इससे अछूती नहीं रही है। इन प्रक्रियाओं ने भी ग्रामीण लोगों की मनोवृत्तियों एवं विचारों को वैज्ञानिक संसाधनों का पूर्वरूपेण प्रयोग होने लगा है जिससे उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इससे पारिवारिक आय में वृद्धि के साथ–साथ राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि हुई है। दूसरा प्रमुख प्रभाव कृषि के वैज्ञानिकीकरण से यह पड़ा है कि अनुसूचित जातियों एवं पिछड़ी जातियों के जो लोग भू–स्वामियों या प्रभु जातियों के यहाँ बन्धक मजदूर के रूप में कृषि कार्य करते थे उन्हें भी इससे मुक्ति मिली है, जिसके फलस्वरूप अब ये लोग नगरों में जाकर विभिन्न औद्योगिक अथवा व्यावसायिक श्रम करने लगे हैं जिससे उनका सामाजिक–आर्थिक स्तर उन्नत हुआ है साथ ही साथ उनमें नवचेतना का भी संचार हुआ है। इस स्टीन (1962) और ईश्वरन (1966) के अध्ययनों से यह परिलक्षित होता है कि ग्रामीण समाज में सिंचाई की बेहतर सुविधाओं, उन्नतशील बीज तथा आधुनिक उर्वरक के प्रयोग के परिणामस्वरूप बार्टर इकोनामी के स्थान को कैश इकोनामी लेती जा रही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Agarwala, virendra, Illust rate weekly, june 9, 1972, Agarwala, P.C caste Rellgion and power, shri Ram cent re for Industrian Relation, New Delhi, 1971.
2. Balley, F.G., cane and the Economic Frontier oxford universilty press, Bonbay, 1958.
3. Bert rand Alvin In Fural socilogy, maograw Hill Book co...New York.
4. Beteille, Andre, Family and Social change in India and other South Asia countries" The Econmic weekly vol. 16, No. 5,6,7: 1964.
5. Bruner Edunund Des and kolb John.

H., A Study of pural Society, Houghton Miffin compeny, Fourth edition, 1952.

6. Bib, S.C. Indian Village Allied Pulisher, Bombay, 1967.
7. Dube S.C., India' s Changing Villages, Foutledge and kegan Paul Ltd. London, 1960.
8. Duront, Louis : Hono Hierarohicus, Vikas Publication, Bangalore, 1960.
9. Epstein, T.S., Econmic Develoment and social change in south India oxford University press, Bombay, 1962.
10. Fuchs, Stephen, The Children of Hari : Study of the Nimar Balahiz in the Central Provinces of India.
11. Ghurye, G.S., caste, Class and Qooupations, Popular prakashan, Haryana (School Student), I.C.S.S.R., 1974.
12. Hiramani, A.B., Social change in pural india : A Study of two villages in maharastra, S.R. Publishing Cprporation, Delhi, 1977.
13. Hutton J.H., Caste In India, oxford University press, London, 1963.
14. Kane, P.V., History of Dharm Shastra, Vol. II, part I,.
15. Khan, Mumtaz All, Scheduled castes and their Status in India Uppal publishing House, New Delhi, 1980.

*****